लेखमाला- खंड-1

कबीर की कविता की राजनीति

चंचल चौहान

कुछ लोग इस लेख के शीर्षक से चौंकेंगे, कहा जा सकता है कि कबीर के युग में तो राजनीतिक पार्टियां थीं नहीं, राजे महाराजे ज़रूर होते थे और राजनीति उन्हीं के दरबारों में होती रहती थी, संतों को उस राजनीति से क्या लेना देना, 'संतन को कहा सीकरी सौं काम'। कबीर दरबारी कवि भी नहीं थे, इसलिए उनकी कविता की क्या राजनीति हो सकती थी? दर असल, राजनीति का एक प्रचलित अर्थ ऊपरी तौर पर दिखायी देने वाले शासक की नीति से लिया जाता है, जैसे इतिहास की प्रचलित व्याख्या राजा महाराजाओं के जीवनचरित और शासनकाल का वर्णन कर देने तक सीमित रहती है। आज भी हर क्षेत्र में अवधारणाओं की एक अनुभववादी व्याख्या होती रहती है, जबकि वैज्ञानिक पद्धति अनुभववाद की कमियों से ऊपर उठ कर अवधारणाओं की यथासंभव वस्तुगत व्याख्या करती है। इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण यह मांग करता है कि इतिहास में उन सबको शामिल किया जाये जो एक देशकाल में रहते और सामाजिक क्रिया-अंतःक्रिया करते हैं। यानी इतिहास के पन्नों को सिर्फ राजा महाराजाओं के जीवनचरित से ही सुसज्जित न किया जाये, यह भी अंकित किया जाये कि उस काल खंड में राजाओं की प्रजा क्या करती और विकास की किस अवस्था में थी, पूरा समाज मानव सभ्यता के विकास की किस मंज़िल पर था, उस दौर में मौजूद वर्गों के बीच टकराव का क्या स्वरूप था। समाज की आदिम अवस्था के बाद जब वर्गविभाजन हो गया, तो शोषित व शोषक के बीच वर्गसंघर्ष की राजनीति का बीज भी उसी समय से पड़ गया। राजनीति की इस अवधारणा को ध्यान में रखें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि अवधारणाओं का भी विकास होता है। राजनीति का अर्थ कौटिल्य या प्लेटो और अरस्तू के ज़माने में दूसरा था, आज दूसरा है। प्लेटो का रिपब्लिक सिर्फ स्वामीवर्ग का था, दासों को तो कोई मानव अधिकार हासिल ही नहीं थे, उन्हें तो पशु की तरह बेचा, ख़रीदा या दहेज में भी दिया जा सकता था जैसा कि तुलसीदास ने सीता के दहेज का वर्णन करते हुए लिखा कि राजा जनक ने सीता के दहेज में 'महिषी, धेनु, वस्त्रविधि नाना' (बालकांड,

दोहा-333 के पहले और बाद में) के साथ ही दास और दासियां भी दीं : 'दासीं दास दिये बहुतेरे।' दासों को ज़िंदा रहने का अधिकार तो सामंतवाद ने दिया, जो कि दासव्यवस्था के मुक़ाबले बेहतर व्यवस्था थी। इसी तरह पूंजीवाद ने फ्रांस की क्रांति के साथ 1789 में 'समानता, आज़ादी और बंधुत्व' के जनवादी नारे संसार को दिये, यह भी प्रगतिशील काम था क्योंकि पूंजीवाद सामंती व्यवस्था के मुक़ाबले बेहतर समाज था, नयी व्यवस्था के आने से शोषित मानवता को कुछ और स्वतंत्रताएं हासिल हुईं जो उसे पुरानी पतनशील व्यवस्था में नहीं मिली थीं। पूंजीवाद के साम्राज्यवाद की मंज़िल में पहुंचने तक विश्व के शोषित मानव के लिए खतरे फिर बढ़ गये हैं जिनका खात्मा समाजवाद के विकास से ही संभव है। इसलिए आज की राजनीति का केंद्रीय मुद्दा साम्राज्यवादी शोषण से विश्व मानवता की मुक्ति का है। राजनीति का यह विमर्श व्यापक आम समझ से हट कर होगा।

हमारे अपने देश में भी जब मुक्तिबोध यह सवाल करते हैं कि 'पार्टनर, आपकी पालिटिक्स क्या है?' या 'तय करो किस ओर हो तुम', तो इसका मतलब यह नहीं है कि आप किस पार्टी में है, मतलब उस वर्गीय क़तारबंदी का है जिसमें हर कोई जाने अनजाने 'पार्टनर' है, भले ही वह वर्गचेतस न हो। आज भी हमारा समाज वर्गों में बंटा हुआ है, उन वर्गों के हित साधन करने वाली राजनीतिक, वैचारिक संरचनाएं भी हैं जिन्हें हम पार्टियों और विचारधाराओं के नाम से जानते हैं। इन सबका एक वर्गीय चरित्र है, उनकी वर्गीय पक्षधरता है। सारे धान बाईस पसेरी नहीं हैं, एक तरह की राजनीति और दूसरे तरह की राजनीति के वर्गचरित्र में अंतर है। जिस कालखंड में इस देश में पूंजीपतिवर्ग का उदय हुआ तो उसकी राजनीति, उसकी विचारधारा और साहित्य का भी जन्म हुआ। कविता में भी, 'पै धन विदेस चलि जात यहै दुख भारी' जैसी पंक्ति इसी राजनीति से अस्तित्व में आयी थी, स्वाधीनता आंदोलन के दौर का ज़्यादातर साहित्य मुक्ति की वर्गीय राजनीति से ही पैदा हुआ था। उसी दौर में मजदूरवर्ग की विचारधारा और राजनीति भी अस्तित्व में आयी, आख़िर अकबर के ज़माने में तो न कांग्रेस पार्टी बनी, न ही कम्युनिस्ट पार्टियां कहीं भी बनी थीं, क्योंकि तब पूंजीपतिवर्ग का वर्गीय आधार भी नहीं था। इसलिए राजनीति का व्यापक अर्थ वर्गीय राजनीति से ही लिया जाना चाहिए।

दुर्भाग्य से हिंदी क्षेत्र में सामंती सोच इतनी गहरे पैठी हुई है कि आज भी राजनीति को व्यक्तिपरक अर्थों में ही (राजा साहब की राजनीति के रूप में) ग्रहण किया जाता है। अमुक नेता ऐसा है, तमुक नेता ऐसा है, यह नहीं समझा जाता है कि इनमें कुछ पार्टियां ऐसी हैं जो विश्वपूंजीवाद के हित साधन में लगी हैं, विश्वपूंजीवाद अब अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के वर्चस्व से सारी दुनिया पर अपना

द्र

दबदबा क़ायम किया हुआ है, उनके एजेंट अर्थव्यवस्था पर क़ाबिज़ हैं, पार्टी कोई भी सत्ता में दिखायी दे रही हो। पार्टियां अपने अपने मुखौटे ले कर उसी पूंजी की सेवा में लगी हैं, व्यक्ति या नेता कोई भी उनमें हो, वह तो मात्र 'मुखौटा' है। कुछ ही पार्टियां मज़दूरवर्ग और बाक़ी शोषित वर्गों के हितों की नुमाइंदगी करती हैं, उनमें भी व्यक्ति कोई भी हो, उसकी सफलता और ग़लतियां भी वर्गीय ताक़त और कमज़ोरियों के कारण ही होती हैं। मुक्तिबोध के सवाल का जवाब भी इसी समझदारी की मांग करता है। राजनीति के इसी वर्गीय अर्थ में कबीर की कविता की राजनीति पर विचार किया जाना चाहिए।

कबीर के समय में भी समाज वर्गों में बंटा हुआ था और उन वर्गों के हित आपस में टकराते थे। इस टकराहट को ही हम वर्गसंघर्ष कहते हैं। मार्क्स ने मानव के इतिहास को वर्गसंघर्ष का इतिहास कहा था। इस अर्थ में हमें कबीर की कविता के वर्गीय विचारों का विश्लेषण करना होगा। उनके विचार ही उनकी राजनीति के मुखर बिंब माने जायेंगे। कबीर जिस कालखंड में रचना कर रहे थे, वह काल बुनियादी तौर पर सामंती काल ही था। उत्पादन के मुख्य साधन के रूप में ज़मीन थी जिस पर सामंतों का कब्ज़ा था और उस पर काम करने वाले किसान ही थे। समाज की बनावट में कुछ अन्य वर्ग भी थे जैसे बुनकर, कुम्हार, नाई, भवननिर्माण करने वाले मिस्त्री, लोहार और चर्म आदि का हस्तउद्योग करने वाले तथा सफ़ाई आदि में लगे समुदाय। इन सब का लालनपालन भी कृषिउत्पादन से ही जुड़ा था। सामंतवर्ग उस दौर का शासकवर्ग था, उस वर्ग की विचारधारा का भी आधिपात्य समाज में था, जिस तरह शोषित समाज की ओर से कभी कभी चुनौती सामंतवर्ग को इतिहास में मिलती है, उसी तरह उनकी विचारधारा को भी चुनौती समय समय पर मिलती है। भारतीय सामंतवाद की सबसे मजबूत विचारधारा ब्राह्मणवाद रही है जिसका मुख्य घटक वर्णाश्रम व्यवस्था और पुनर्जन्म (अवतारवाद) की अवधारणा है। मनुष्य और मनुष्य के बीच नाबराबरी को हमेशा के लिए वैध बना देने वाले ये विचार सामंतवाद को आज तक मज़बूत बनाये हुए हैं। फ्रांस की क्रांति के समय आधुनिक पूंजीवाद ने सामंती विचारधाराओं का भी अंत किया था, मगर उसके बाद जब उसने प्रतिक्रियावादी स्वरूप अख़्तियार कर लिया तो सामंतवाद को भी अपनेच शोषण-पाप के परंपराक्रम में शामिल कर लिया। इसीलिए योरोप के कई देशों में आज भी राजा रानी पूंजीवादी सत्ता के सहायक हैं, हालांकि वे शोभामूर्ति ही हैं। भारत में भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सामंतवाद से समझौता कर लिया था, उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए भारत के इज़ारेदार पूंजीवाद ने भी सामंतवाद को ख़त्म करने के बजाय उससे गठजोड़ कर लिया। सामंतवाद के अनेक सड़े गले विचार और परंपराएं हमारे यहां

इसीलिए आज भी जीवित हैं, क्योंकि आज़ादी के बाद के भारत की राजसत्ता में इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग के साथ सामंतवाद का गठजोड़ है। एक ही सामंती घराने का पुत्र कांग्रेस में बड़ा नेता है, उसी घराने की माता या बहन बी जे पी में और सतीप्रथा का आदर्शीकरण करने वाली, बीजेपी के ऐसे सामंती तत्व मंत्री या मुख्यमंत्री पर पर आसीन होते रहे हैं और आगे भी रहेंगे। यह एक उदाहरण है, व्यक्ति की या घराने की बात नहीं है, इससे सिर्फ यह स्पष्ट होता है कि सामंतीवर्ग किस तरह इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग के साथ आज भी गठबंधन करके देश की सत्ता में हिस्सेदारी कर रहा है, इससे हमारे समाज की सत्ता का वर्गचरित्र स्पष्ट होता है।

कबीर के वक्त में औद्योगिक पूंजीपतिवर्ग वजूद में नहीं था। हथकरघे या हस्तशिल्प से ही ऐसी चीज़ें बनायी जाती थीं जिनका इस्तेमाल अन्य वर्ग के लोग करते थे, इस सीमित बाज़ार के लिए ही ऐसे लघु माल का उत्पादन होता था। कबीर भी इसी तरह के उत्पादन से जुड़े थे। कृषि व्यवस्था में ऐसे उत्पादक ही प्रगतिशील वर्ग के रूप में उभरते हैं और विकास के अपने चरण में वे सामंतवाद को चुनौती भी देते हैं। यह प्रक्रिया ज़्यादातर समाजों में घटित होती है। व्यावसायिक पूंजीवाद का विकास भी इसी प्रक्रिया में होता है जो सामंतवाद को चुनौती देता है।

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था और पुनर्जन्म की विचारधारा को निर्णायक तौर पर ख़त्म करना इसीलिए संभव भी नहीं हो पाया क्योंकि आर्थिक आधार में सामंतवाद की उपस्थिति बनी हुई है। कृषि संबंधों में भूस्वामित्व और भूमिहीनता के अस्तित्व को ज़िंदा रखने के लिए ब्राह्मणवाद एक कारगर हथियार की तरह काम कर रहा है। आज दलित चेतना के उभार का अर्थ भी इसी ब्राह्मणवाद-सामंतवाद के ख़िलाफ़ उभरने वाले वर्गसंघर्ष से ही है, वह वर्णसंघर्ष नहीं। यह आकस्मिक नहीं है कि दलित लेखक आज खुद को कबीर की परंपरा से जोड़ रहे हैं,(देखें, डा. धर्मवीर की पुस्तक, *कबीर के आलोचक*) क्योंकि कबीर की कविता की राजनीति जागरूक दलित लेखकों को उनके अपने समुदाय के हित में जाने वाली राजनीति लगती है। यद्यपि कबीर के काव्य में ऐसे भी अंश हैं जिन पर सामंती विचारधारा का अच्छा ख़ासा असर है (और सामंती समाजव्यवस्था में ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है), फिर भी उनका बहुलांश सामंतवाद के ख़िलाफ़ जाता है, वह सामंतवाद चाहे हिंदू समुदाय का हो या मुस्लिम समुदाय का। उन्होंने सामंती विचारधारा के रखवाले पंडितों और मुल्लाओं की खुले आम ख़बर ली। कबीर की कविता के इस पक्ष पर टिप्पणी करते हुए डा. रामविलास शर्मा ने लिखा, 'उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस कार्य से उन्होंने निम्नवर्गों की सामाजिक चेतना को निखारा, उसे बल

प्रदान किया। इस तरह उन्होंने जनसाधारण को सामंती अत्याचारों के विरोध में खड़ा होना सिखाया।' (*इंद्रप्रस्थ भारती*, अप्रैल-जून:2000, पृ.82)

समाज के विकासक्रम में हर मंज़िल पर सत्यों का उदघाटन वे वर्ग करते हैं जो ऐतिहासिक रूप में पुरानी शोषण व्यवस्था को ख़त्म करने और नयी विकासशील व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रतिश्रुत होते हैं। मसलन, सामंतवाद के ख़ात्मे की ऐतिहासिक रूप से ज़िम्मेदारी पूंजीवाद की है, इसलिए जिस दौर में पूंजीवाद ने सामंतवाद के ख़ात्मे की निर्णायक लड़ाई लड़ी, उस दौर में उसने सत्य का, वैज्ञानिक सत्य का प्रसार किया। ज्ञानविज्ञान का अकूत विस्तार उसी वर्ग की देन है। इसी तरह सर्वहारावर्ग की ज़िम्मेदारी पिछली तमाम शोषण पर आधारित व्यवस्थाओं को ख़त्म करने की है, इसलिए ज्ञानविज्ञान को पूरे समाज के हित में इस्तेमाल करने और सत्य उजागर करने और सत्य की विजय के लिए संघर्ष करने का दायित्व भी ऐतिहासिक तोर पर उसी वर्ग का है।

कबीर और निर्गुण संप्रदाय के भक्त सामंतवाद के भीतर उभरते नये कारीगरवर्ग और सामंती उत्पीड़न के ख़िलाफ़ संघर्ष करती किसान जनता की विचारधारा को प्रतिबिंबित करते थे, इसीलिए 'सत्य' के प्रति या 'ज्ञान' के प्रति उनका ही ज़्यादा आग्रह था। प्रो. इरफान हबीब ने लिखा भी है कि ये संत उत्पीड़ित और दलित सामाजिक तबक़ों से आये थे, इनका एकेश्वरवाद समाज की निचली श्रेणियों की आवाज़ बनकर प्रकट हुआ था। उन्होंने कबीर के बारे में लिखा कि 'कबीर के लिए ईश्वर से एकाकार होने का अर्थ मनुष्यों का एक होना है और इसीलिए वहां शुद्धता और छुआछूत की प्रथा को संपूर्ण रूप से स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है तथा सब तरह के अनुष्ठानों को अस्वीकार किया गया है।' (*सांप्रदायिकता और संस्कृति के सवाल*, पृ.23) सगुण 'भक्ति' ब्राह्मणवाद के विचारों के विरुद्ध बहुत दूर तक नहीं जाती थी,, उलटे वर्णाश्रम धर्म और पुनर्जन्म की विचारधारा को पुष्ट करती थी।

सगुण भक्ति के व्यापक प्रचार और प्रसार का एक कारण यह था कि सामंती व्यवस्था के भीतर सदियों से दबे कुचले समुदाय के लिए सगुण 'भक्ति' का रास्ता आसान था, 'भायं कुभायं अनख आलसहूं / नाम जपत मंगल दिसि दसहूं'। तुलसीदास ने 'ज्ञान' के पंथ के बारे में एक डर पैदा किया, 'ज्ञान क पंथ कृपान कै धारा / परत खगेस न लावहि बारा'। उन्होंने सगुण 'भक्ति' को 'मणि' की संज्ञा दी और 'ज्ञान' को 'दीपक' बताया जो आसानी से बुझ सकता था। सामंती सांस्कृतिक पिछड़ इस आसान रास्ते की ओर साधारण जन को ले जाती थी, इसीलिए सगुण-निर्गुण के संघर्ष में ब्राह्मणवाद की ही अंततः विजय हुई, इस संघर्ष में ब्राह्मणवाद ने इसलिए भी विजय हासिल की क्योंकि उस भक्ति को आम आदमी

की भौतिक आवयकताओं की पूर्ति के आश्वासन से जोड़ दिया गया था। 'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं / सुख संपति नाना विधि पावहिं' (*रामचरितमानस*) या फिर यह कहा गया था कि 'जिमि सरिता सागर महं जाहीं / जदपि ताहि कामना नाहीं / तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये / धरमसील पहं जायं सुभाये।।' सगुण भक्ति के प्रसार में इस भौतिकवादी आश्वासन का बहुत बड़ा हाथ है। 'ॐ जय जगदीश हरे' के व्यापक प्रसार का भी यही कारण है। हमारे देश में सैकड़ों भगवानों और भगवतियों व साईं बाबाओं की लोकप्रियता का रहस्य भी यही है कि वे सब 'सुख संपति घर आवे' का आश्वासन ज़रूर देते हैं। निर्गुण संप्रदाय ने भक्ति की जगह 'ज्ञान' और 'सत्य' का संदेश दिया और उन ढकोसलों का खंडन किया जिनका व्यापक प्रचार पंडित और मुल्ला अपने अपने तरीक़े से करते थे। कबीर का बल भी 'ज्ञान' और 'सत्य' पर था, काव्यात्मक तरीक़े से उनकी आत्मा रूपी प्रेमिका कहती है कि 'पिया मोरा मिलिया सत्त गियानीं'(*कबीर ग्रंथावली*, सं.पारसनाथ तिवारी, पद-17) कबीर की कविता कहीं भी 'सुख संपति' का झूटा आश्वासन नहीं देती। वहां तो धनसंचय और माया के जाल में फंसने से भक्त को बचाने की कोशिश है। सुख संपति का भोग करने वाला सामंतवर्ग भी अंततः 'जायगा', यह यथार्थ ज़रूर उनकी कविता में हमें मिलता है।

निर्गुण काव्य में लौकिक बिंब ज़रूर हैं, उनके बिना कविता संभव ही नहीं है। मगर उस काव्य में 'सत्य' को ही ईश्वर माना गया है, किसी हाड़-मांस के राम या कृष्ण या मछली या सुअर आदि को नहीं जैसा कि अवतारवाद में विश्वास करने वाली सगुण भक्ति काव्य में वर्णित है। सिखों के उदघोष, 'सत श्री अकाल' का भी यही अर्थ है कि 'सत्य ही अमर ईश्वर है'। निर्गुण संप्रदाय के अनुयायी सिखों के धर्मग्रंथ 'गुरु ग्रंथसाहब' में उस समय के सभी निर्गुण ईश्वर में विश्वास रखने वाले संतों की कविताएं (जिनमें कबीर की कविताएं मात्रा में सबसे ज़्यादा हैं) संकलित हैं। सिखों के 'दसवें गुरु गोविंदसिंह जी जब मरने लगे तो उन्होंने उस की ओर लक्ष्य कर अपने अनुयायियों से कहा कि 'सिक्खो, मेरे बाद अब तुम्हारा कोई शरीरधारी गुरु नहीं होगा, 'ग्रंथ साहब' को ही अपना गुरु समझना। उसकी शिक्षाओं पर चलना और उसके सम्मान की रक्षा करना।' (*कबीर ग्रंथावली*, वही, भूमिका, पृ.71) दसवें गुरु को यह लगा होगा कि ब्राह्मणवाद के प्रभाव में कोई शरीरधारी अपने को ईश्वर का अवतार घोषित करके उनके किये कराये पर पानी न फेर दे, और हुआ भी वही, कबीरपंथियों ने कबीर को भगवान आखिर बना ही दिया। सिखों ने भी अपने धर्म को ब्राह्मणवादी कर्मकांड में ढाल दिया।

निर्गुण संतों के अनुयायी ज्यादातर मेहनतकश समुदाय के ही लोग थे, जबकि सगुणभक्ति सवर्णों को ज़्यादा अच्छी लगी और सवर्णों ने बाद में तुलसी के महाकाव्य, *रामचरितमानस* को उसी तरह पूजना शुरू कर दिया जैसे सिख 'गुरु ग्रंथसाहब' को पूजते हैं। वे भी सिखों की नक़ल करते हुए तुलसी के ग्रंथ का अखंडपाठ करते हैं और प्रसाद बांटते हैं। ब्राह्मणों ने उसे एक ऐसे धार्मिक अनुष्ठान में बदल दिया है जिससे वे अखंडपाठ करने वालों के मन में उनकी मनोकामना पूरी करने के विश्वास को भी बल प्रदान करते हैं। तुलसी ने अपने महाकाव्य के हर कांड में जगह जगह अंधविश्वास फैलाने वाली ऐसी घोष्णाएं की हुई हैं कि *रामचरितमानस* के पाठ से 'सुख संपति' अपने आप आती है। भारत की भोली भाली ग़रीब जनता को इस तरह के 'गरीबी हटाओ' के नारे से बार बार छला गया है। वह इस छलना की अभ्यस्त हो गयी है। हमारे समाज ने सामंतवाद के ख़िलाफ़ अब तक कोई निर्णायक लड़ाई नहीं लड़ी है, हमारे पड़ोसी देश नेपाल तक ने यह लड़ाई लड़ी और कुछ हद तक जीती है, इसीलिए वहां सर्वहारावर्ग का आंदोलन भी आगे बढ़ गया है। भारत की ज्ञानात्मक प्रगति के लिए आर्थिक आधार और सुपरस्ट्रक्चर यानी दोनों स्तरों पर सामंतवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष करना बहुत जरूरी है। कबीर इस सकारात्मक राजनीति में हमें बहुत बड़ी प्रेरणा देते हैं। उनकी कविता में ऐसे अनेक वैज्ञानिक सत्यों का उदघाटन हुआ जिनसे सामंती मिथ्या चेतना का खंडन होता था। एक जगह तो यहां तक कह दिया है कि 'मनुष्य के बावले मन ने ही ईश्वर की रचना की है'। (*गुरु ग्रंथसाहब* के गउड़ी, 57-1 में एक पंक्ति आती है कि 'कालबूत की हसतनी मन बउरा रे चलतु रचिओ जगदीस')। यह वक्तव्य आश्चर्यचकित कर देने वाला है, हालांकि हमारे देश में चार्वाक से ले कर अनेक ऐसे दार्शनिकों की लंबी परंपरा रही है, जो या तो नास्तिक थे या निराकार ईश्वर में ही विश्वास रखते थे। लेकिन सामंती विचारधाराओं के गहरे घटाटोप से घिरे समाज में इस तरह की घोषणा सचमुच क्रांतिकारी ही कही जायेगी। *कबीर ग्रंथावली* के संपादक पारसनाथ तिवारी ने इस पंक्ति में आये शब्द 'चलतु' को और इस पंक्ति के डा. रामकुमार वर्मा द्वारा किये गये अर्थ को ग़लत बताया है और उसकी जगह 'चित्र' शब्द को सही माना है और वही उन्होंने पद संख्या 97 में दिया भी है। इससे कबीर की उक्त पंक्ति का अर्थ बदल जाता है, और यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य ने ही ईश्वर की रचना की है। मगर डा. तिवारी द्वारा संकलित एक अन्य पद भी है जो काव्यात्मक तरीक़े से फिर यही दर्शाता है कि कबीर अपनी रचनायात्रा में ऐसे पड़ाव पर पहुंचते हैं जहां वे किसी ईश्वर को नहीं मानते। उनके विपुल साहित्य में ऐसे स्थल ज़्यादा हैं जहां वे निराकार

भगवान को जो कि सत्यरूप है, ज्ञानरूप है अपना इष्ट मानते हैं। पद संख्या 140 तक पहुंच कर उनका वाचक इतना निर्भीक हो जाता है कि कह उठता है :

अब मेरी रांम कहइ रे बलइया।
जांमन मरन दोऊ डर गइया।।
ज्यों उघरी कों दे सरवांनां।
राम भगति मेरे मनहुं न मांनां।।
हंम बहनोई राम मेरा सारा।
हमहि बाप रांम पूत हमारा।।
कहै कबीर ए हरि के बूता ।
रांम रमे तो कुकुर के पूता ।।

आख़िर की पंक्ति का एक पाठ यह भी है कि 'कहै कबीर सकल जग मूठा / राम कहै सोई जन झूठा।' (*कबीर ग्रंथावली*, वही, पृ. 82) इस पद का अर्थ इतना दुरूह नहीं है कि कबीर की निर्भीकता समझ में नहीं आये। 'राम के जन्मदाता हमीं हैं' इस अर्थ को भी झुठलाना संभव नहीं है। अगर दूसरे पाठ को भी सही मानें तो भी स्पष्ट है कि राम का जाप करने वाला झूठा है, स्मरण रहे, वे पंडितों की आलोचना करते हुए यह कहते रहे थे कि 'पंडित बाद बदै सो झूठा'। अभिलाष दास ने भी अपनी पुस्तक '*कबीरः व्यक्तित्व और कर्तृत्व*' में यह माना है कि कबीर किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, कबीर के लिए 'यह चेतन जीव ही परम तत्व हैसदगुरु पहली ही रमैनी में कहते हैं कि 'एक जीव कित कहूं बखानी।' अर्थात एक जीव ही सत्य है, मैं विषय वर्णन क्या करूं।'(पृ.106) अभिलाष दास ने एक दोहे का अर्थ करते हुए यह दर्शाया है कि कबीर किसी ईश्वर को नहीं मानते थे। 'सांच कहूं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि / मो शिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि।'

कबीर की कविता की यही राजनीति है कि वह दमित, दलित और अपने समय के शोषित वर्गों के साथ खड़ी होती है और उन्हें ज्ञान के माध्यम से आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। उनका शोषण करने वालों ने जिस झूठ को तरह तरह से फैला रखा था, उस पर वे निर्मम हो कर प्रहार करते हैं, चाहे वह झूठ पंडितों ने फैलाया हो, मुल्लाओं ने फैलाया हो, अवधूतों ने फैलाया हो, या किसी अन्य संप्रदाय ने जो मनुष्य को अज्ञान की ओर धकेलता हो। मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह ने पिछले दिनों लिखे अपने एक लेख में लिखा है कि 'अपने जीवनानुभव के साक्ष्य पर आधारित तर्कों से कबीर पंडित को, मुल्ला को, धार्मिक मठाधीशों को, योगियों को और अवधूतों को निरुत्तर कर देते हैं, जातिप्रथा के समर्थकों की बोलती बंद कर देते हैं, धार्मिक कर्मकांड और आडंबरों की धज्जियां उड़ा देते हैं।'(*इंद्रप्रस्थ भारती*, अप्रैल-जून 2000, पृ.112)

कबीर की कविता में मेहनत करने वाले लोगों के जगह जगह चित्र हैं, एक पद में तो सामंत द्वारा किये गये अत्याचारों से तंग आकर एक किसान गांव छोड़ने की बात करता है। कहीं, चरखा चलाने वाली स्त्रियां हैं, कहीं युद्ध में लड़ने वाले सिपाही हैं। कहीं भी अंधविश्वास फैलाने वाले चित्र नहीं हैं, उलटबांसियां तो एक विधा की तरह हैं, उनमें भी चित्र सामान्य जीवन के ही हैं, जैसे सिंह गाय चरा रहा है तो चित्र तो ग्वाले का ही है। कबीर के काव्य में ऐसा बहुत कुछ है जो आज की क्रांतिकारी राजनीति के काम का है। प्रगतिशील विचारधारा के बहुत से बीज('आलोचना और आत्मालोचना' से ले कर 'ज्ञानविज्ञान' के प्रचारप्रचार तक) कबीर में दिखते हैं जो उन्हें लोकायत, सांख्य, न्यायवैशेषिक आदि अनेक भौतिकवादी दर्शनों की लंबी भारतीय परंपरा से जोड़ते हैं जो आज के शोषित समाज की अमूल्य निधि है।

रचनाकाल : मई 2001

तुलसी का *रामचरितमानस*

विचारधारा का सवाल

चंचल चौहान

अनभै सांचा, पत्रिका के अप्रैल-जून 2012 के अंक में डा. नित्यानंद तिवारी ने अपने लेख, 'भक्ति-साहित्यः एक पुनरावलोकन' में *रामचरितमानस* के दशरथ-कैकेयी प्रसंग की जो उत्तरआधुनिकतावादी व्याख्या की है वह काफ़ी बहसतलब है, विचारोत्तेजक भी। उससे अपनी विनम्र असहमति जताते हुए मुझे लगा कि अभी हिंदी पाठकों में शायद क्लासिकल साहित्य में अंतर्निहित विचारधारा की जानकारी का अभाव है। यों तो अंग्रेज़ी साहित्य में भी वैज्ञानिक तरीक़े से क्लासिकवाद की परिभाषा और पूरे क्लासिकल साहित्य की इस नज़रिये से व्याख्या देखने को नहीं मिली है, फिर भी क्लासिसिज़्म और रोमांटिसिज़्म की तुलना करते हुए एक बिंबवादी कवि टी ई ह्यूम ने क्लासिसिज़्म में अंतर्निहित विचारधारा का सारतत्व जाने अनजाने एक वाक्य में बताया, जो मुझे काफ़ी हद तक सही लगता है। उसका कहना

है कि क्लासिकल साहित्य इस विचार पर आधारित है कि 'मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता' ('Man cannot transcend his limitations')। क्लासिकल साहित्य दासयुग के दौरान शुरू हुआ जब 'संपत्ति' की अवधारणा और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की समाज-व्यवस्था पैदा हुई। दासों पर स्वामियों का शासन अबाध रूप से चलता रहे, इसी शासकवर्गीय आकांक्षा का प्रतिफलन क्लासिकल विचारधारा में हुआ, उक्त परिभाषा में दो विचार और जुड़े, एक तो नियतिवाद का, दूसरा 'अभिमान' को पाप बताने का। यह विचारधारा आश्चर्यजनक रूप से ग्रीक साहित्य से ले कर दुनिया के सारे महाकाव्यों और जनमानस में आज भी व्याप्त है, जब कि रोमांटिक साहित्य की विचारधारा ने पूंजीवादी समाज की स्थापना के लिए हुई फ्रांस की क्रांति से प्रेरित हो कर क्लासिकल विचारधारा को खंडित कर दिया था, सामाजिक विकास की आधुनिक मंज़िल में वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों से यह प्रमाणित कर दिया कि 'मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है'।

ग्रीक साहित्य में *प्रोमिथियस बाउंड* नामक कृति का संदेश क्लासिकल विचारधारा पर आधारित था। काव्यनायक प्रोमिथियस ने यह जुर्रत की कि उसने स्वर्ग से अग्नि चुरा कर मानव संसार को दे कर एक बनी बनायी व्यवस्था को चुनौती दी तो देवों ने उसे एक चट्टान से बांध दिया और यह संकेत दिया कि मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करे, जो स्पार्टाकस बनने की कोशिश करेंगे, सज़ा पायेंगे। इसका निषेध करते हुए, क्रांतिकारी रोमानी अंग्रेज़ी कवि पी बी शैले ने एक कृति रची, *प्रोमिथियस अनबाउंड*। यह नयी चेतना का साक्ष्य प्रस्तुत करती है कि मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है। रोमानी कवि ने प्रोमिथियस को बंधनमुक्त कर दिया क्योंकि रोमानियत बंधनों से मुक्ति का संदेश देती है। डार्विन ने अपने शोध से सारी दुनिया को ऐसा ही संदेश दिया कि उद्विकास के दौरान वनमानुस ने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके ही मनुष्य का रूप हासिल किया। ग्रीक साहित्य में ऐसे मिथक और ऐसे कथ्य ही रचनाओं के लिए उपयुक्त माने गये थे जिनमें सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले मनुष्य को सज़ा मिलती है, चाहे वह सोफ़ोक्लीज़ का नाटक, *इडिपस* हो, या एस्खाइलस की कृति, *प्रोमिथियस बाउंड* या फिर इकारस का मिथक जिसमें वह मोम के पंख लगा कर सूरज तक उड़ना चाहता था और पंख पिघलने पर ज़मीन पर आ गिरता है। हमारे मिथकों में त्रिशंकु की भी यही दुर्गति होती है। सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला अभिमान की भावना रखता है, इसलिए उसे कब्ज़े में रखने के लिए अभिमान को पाप की श्रेणी में रखा गया, इसी विचारधारा से निःसृत नियतिवाद भी दासयुग से ले कर आज तक

इसी नियंत्रणविधि का एक औज़ार रहा है, जिसे शोषणसमाज में सभी जगह खूब प्रचारित किया जाता रहा है, यानी 'होता है वही जो मंजूरे खुदा होता है' या 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा/ को करि तरक बढ़ावहि साखा'।

यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि सामाजिक विकास की मंज़िलें अपने से पहले की मंज़िल के सुपरस्ट्रक्चर को बदलती रहीं, मगर दासयुग की क्लासिकल विचारधारा को नया रूप दे कर पालती पोसती रहीं। मसलन, ग्रीक समय के दास युग के बाद सामंती युग में प्रवेश के बाद ईसाइयत ने भी उसे नये मिथकों से सजा कर और अधिक स्वीकार्य बनाये रखा। बाइबिल का पहला अध्याय ही यह संदेश देता है कि 'मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता' और अगर करने की कोशिश करेगा तो सज़ा पायेगा। ईसाइयत ने उस विचारधारा में एक नया आयाम यह जोड़ा कि सृष्टि में हर चीज़ का एक नियत स्थान है, एक सीढ़ी है, जिसमें ईश्वर सबसे उच्च स्थान पर है, फिर देवदूत, फिर मनुष्य, फिर जीव, फिर वनस्पति, फिर चट्टानें, फिर पानी। इनमें से कोई अपने से उच्च सीढ़ी पर जाने की कोशिश करेगा तो उसे सज़ा मिलेगी। इकारस के मिथक का यह नया रूप था, आदम और हौवा मनुष्य से देवदूत बनने की कोशिश के बतौर ईश्वर के आदेश के विरुद्ध जाते हुए ज्ञान का फल खा लेते हैं तो उन्हें सज़ा मिलती है, उन्हें पापी घोषित कर दिया जाता है, और मृत्यु के हाथों सौंप दिया जाता है। शेक्सपीयर की अमर कृतियां, *किंग लीयर*, *हैमलेट* आदि, मिल्टन की अमर कृति, *पैराडाइज़ लॉस्ट*, मारलो की अमर कृति, *डॉक्टर फॉस्टस* इसी विचारधारा का पोषण करती हुई कृतियां हैं जबकि ये उदीयमान पूंजीवाद के समय के उत्पाद हैं, अठारहवीं सदी के अंग्रेज़ी साहित्य में तो घोषित रूप से क्लासिकल विचारधारा के अनुकरण की सलाह रचनाकारों को दी गयी जिसे उस ज़माने के कवि अलेग्ज़ेंडर पोप की काव्यकृति, *एन ऐस्से ऑन मैन* में देखा जा सकता है। यह कृति कवि के समकालीन अंग्रेज़ दार्शनिक बोलिंगब्रोक की दार्शनिक विचारधारा का ही पद्यानुवाद मानी जाती है जो ईसाइयत की ही सरणिव्यवस्था को 'चेन ऑफ़ बीइंग' का नाम दे कर यही संदेश देता है कि सृष्टि में हर जीव और पदार्थ का, 'अस्तित्व की कड़ी' में एक तयशुदा स्थान है, उस स्थान का अतिक्रमण करना संभव नहीं, अतिक्रमण करने पर सज़ा का दैवी विधान है जो आदम और हौवा को भी पापी बना चुका है।

हमारे यहां के 'ब्राह्मणवाद' से यह फ़लसफ़ा काफ़ी मिलता जुलता है जिसमें ब्राह्मण ईश्वर का मुख है, क्षत्रिय उसकी भुजाएं हैं, वैश्य उसका उदर हैं और शूद्र उसके पदतल हैं, यहां भी कोई अपने स्थान का अतिक्रमण नहीं कर सकता। भगवद्गीता में कृष्ण के मुख से यह कहलवा कर कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं...'(अध

याय 4, श्लोक 13, अध्याय 18, श्लोक 41-44) इस क्लासिकल विचारधारा को भी दैवी-विधान की शक्ल दे दी गयी जिसकी वजह से भारतीय समाज आज तक नाबराबरी के इस फ़लसफ़े की गिरफ़्त में बना हुआ है और इससे मुक्ति के कोई आसार भी फ़िलहाल नहीं दिखायी दे रहे।

इस तरह की क्लासिकल विचारधारा का सर्वव्यापी प्रभाव यूरोप में ही रहा हो, ऐसा नहीं है। शोषण पर आधारित समाजों के उद्‌भव और विकास की प्रक्रिया में इस विचारधारा का जन्म होना लाज़मी रहा है, इसलिए हमारे क्लासिकल साहित्य में भी वह मौजूद है, हमारे महाकाव्य और धार्मिक विमर्श में भी वह केंद्रीय धुरी की तरह काम करती है, उसी विचारधारा से प्रेरित उपदेश, 'आत्मानम् विद्धि' और नियतिवाद हर जगह हर क्षण हमें सुनायी देता है। हमारे मिथक भी उसी तरह का संदेश देते हैं कि 'मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता', राम का मिथक हो या कृष्ण का, या त्रिशंकु का। कंस का वध कृष्ण के हाथों होना है, कंस अपनी इस सीमा का अतिक्रमण करने के लिए हर उपाय करता है, अभिमानी बनता है, अंततः वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने के प्रयास में सफल नहीं हो पाता, कृष्ण के हाथों मारा जाता है। ठीक उसी तरह जिस तरह ग्रीक साहित्य के मिथकीय पात्र अंततः त्रासदी का शिकार होते हैं। ग्रीक कथा के इकारस की तरह त्रिशंकु भी मानवीय सीमाओं का अतिक्रमण करने का प्रयत्न करता है, वह भी उल्टा गिरता है।

क्लासिकल विचारधारा के इस खुलासे की ज़रूरत मुझे इसलिए महसूस हुई क्योंकि इसे जाने बग़ैर *रामचरितमानस* जैसी रचना के किसी भी हिस्से को विचारधारारहित मानने की उत्तरआधुनिक भूल की जा सकती है। डा. नित्यानंद तिवारी ने साहित्यविनोद की तरह उत्तरआधुनिकतावादी आलोचना का एक प्रयोग किया है और *रामचरितमानस* के दशरथ-कैकेयी प्रसंग की व्याख्या करते हुए यह आम धारणा व्यक्त की है कि तुलसी के पास जो विचारधारा है वह 'भक्ति की विचारधारा' है, और यहीं पर गड़बड़झाला है। दशरथ-कैकेयी प्रसंग में दशरथ बहुत पहले कैकेयी को दिये गये वचन के कारण मुसीबत में फंस गये हैं, वचन को निबाहते हैं तो निरपराध बेटे राम को बनवास दे कर उसे दंडित करने का पाप करेंगे, नहीं निबाहते हैं तो रघुकुल-रीति तोड़ कर न्यायी राजा होने की श्रेष्ठता से नीचे गिर जायेंगे। डा. नित्यानंद तिवारी इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं :

> तुलसी के पास बड़ी दृढ़ विचारधारा थी, जो इस संकट से दशरथ को उबार सकती थी। लेकिन तुलसी विचारधारा का उपयोग नहीं करते। संपूर्ण *रामचरितमानस* में कोई ऐसा उभयोतपाशबद्ध प्रसंग नहीं है। आख़िर तुलसी भक्ति की विचारधारा का उपयोग करके इस समस्या का समाधान क्यों नहीं देते। *अनभै सांचा*, 26, पृ.14.

आगे वे लिखते हैं कि *मानस* के पाठ यानी टैक्स्ट में 'यह एक दरार है'। फिर वचन निबाहने को ले कर गांधी और टैगोर के भिन्न विचारों की रोशनी में इस प्रसंग के टैक्स्ट पर नज़र डालते हुए एक लोककथा की प्रकृति की अच्छी व्याख्या करते हैं, और उसके बाद वे उत्तरआधुनिकतावादी विचारसरणि की चपेट में आ जाते हैं और लिखते हैं:

> यह प्रसंग भक्ति की विचारधारा के अधीन नहीं है।...किसी भी वर्चस्वी शक्ति के अधीन नहीं है। इसकी स्वाधीनता किसी की मनमर्ज़ी के मुताबिक़ नहीं है। कोई भी इसका फ़ायदा नहीं उठा सकता -- भक्ति की विचारधारा भी नहीं।
>
> --*अनभै सांचा*, 26, पृ.16.

इसी उत्तरआधुनिकतावादी विचारसरणि के असर में लोककथाओं के बारे में भी यह कह देते हैं कि उनकी आलोचनात्मकता परिस्थितिगत वास्तविकता की गति और रक्त से पैदा होती है, किसी विचारधारा से नहीं।'

ये ही वे बिंदु हैं जहां पर मेरी डा. नित्यानंद तिवारी से विनम्र असहमति है, इसका मतलब यह नहीं कि पूरे लेख में उन्होंने तर्कसंगत समीक्षापद्धति से जो मूल्यवान और नयी व्याख्याएं दी हैं, उन्हें मैं कम करके आंक रहा हूं। वे अपने सारतत्व में जनपक्षीय आलोचना के विशाल दाय का हिस्सा हैं और भक्ति साहित्य के लोकसंपृक्त स्वरूप की वैज्ञानिक समझ हमें देती ही हैं।

वर्गविभक्त समाज में पले बढ़े सभी इंसान विचार भी अर्जित करते हैं, इसलिए विचारधारा से मुक्त होना मुमकिन नहीं, 'लोक' माने जाने वाले सामाजिक प्राणी भी नहीं जो लोकथाएं रचते हैं। लोक में, क्लासिकल विचारधारा जिसे हमारे देश के संदर्भ में 'ब्राह्मणवादी' विचारधारा माना जाता है के लंबे समय तक पनपते रहने की सबसे अधिक उर्वर भूमि है, उसका जिन जिन विचारधाराओं ने उच्छेदन किया, वे लोक के बल पर ख़ुद उसी विचारधारा में ढल गयीं। मसलन, हमारे यहां के बौद्ध, जैन आदि नये दर्शनों ने क्लासिकल विचारधारा के उच्छेदन की कोशिश की, मगर वे सब उसी की तरह हो गये। सिख दर्शन जो सबसे अधिक ब्राह्मणवादी विचारधारा का उच्छेदक था, अपनी रीतिनीति में अब पूरी तरह ब्राह्मणवादी और अंध विश्वासी हो कर, उसी तरह की पूजा अर्चना करने की चालढाल में रंग गया।

तुलसी के समय में सामंतवाद को और उसकी क्लासिकल विचारधारा ब्राह्मणवाद को बड़ी चुनौती मिल रही थी, कबीर कहते थे, 'पंडित वाद वदै सो झूठा', अपने तर्क से वे लोगों को ज्ञानमार्ग पर चलने की सलाह दे रहे थे, ढोंग, आडंबर आदि को गरिया रहे थे, अवतारवाद को मिथ्या क़रार दे रहे थे, यह चुनौती क्लासिकल विचारधारा को चुनौती थी, उससे जुड़े नियतिवाद का भी विखंडन हो रहा

था, वे तर्क पर आधारित ज्ञान को विकसित करने की तड़प लिये हुए थे, वे जाति, धर्म आदि के आडंबरों में और क्लासिकल विचारधारा में जकड़े लोक को नवजागरण का संदेश दे रहे थे, उन्हें यह तकलीफ़ महसूस होती थी, 'सांच कहौ तो मारन धावैं, झूठै जग पतियाना'। मगर उस ज्ञानमार्गी शाखा के विकसित होने के लिए उस समय भौतिक परिस्थितियां विकसित नहीं हुई थीं, इसलिए पहले के कई प्रयासों की ही तरह ज्ञानमार्ग का भी पराभव हो गया, अनुयायी रह गये और आज भी हैं, मगर हैं ब्राह्मणवाद की जकड़बंदी में ही। इसे आज का मीडिया, टी वी चैनल, रेडियो और सूचनातंत्र भी नित नया बल पहुंचा रहे हैं, अनेक बाबा लोग, सुंदर सुंदर साध्वियां, कई हसीन कथावाचक इसी क्लासिकल विचारधारा को अनेक चैनलों के माध्यम से और जगह जगह पंडालों में, मंदिरों में, तीर्थस्थलों में गा बजा रहे हैं, उसे सर्वव्यापी बना रहे हैं, क्यों न हो, करोड़ों का चढ़ावा आ रहा है, मज़े आ रहे हैं, ग्रीक समाज में स्वामियों के हित के लिए बनायी गयी विचारधारा आधुनिक युग के स्वामी लोगों के बड़े काम की चीज़ साबित हो रही है।

तुलसी बाबा ने भी अपने बचपन से 'नानापुराणनिगमागम' और 'सूकरखेत' में सुनी कथा के माध्यम से यही विचारधारा पायी थी, उन्हें निर्गुण कवियों में ज्ञान का अभिमान बर्दाश्त नहीं था, वे हर तरह से 'अवतारवाद' को विखंडित होने से बचाना चाहते थे, इस काम के लिए विश्व के तमाम कवियों की ही तरह क्लासिकल विचारधारा के प्रसार के लिए उन्हें भी महाकाव्य विधा का सहारा लेना पड़ा, एक रोचक कथा जो लोक में उपलब्ध थी, साधु संत इधर उधर सुनाते रहते थे, 'सूकरखेत' में सुनी हुई थी ही, इसलिए उसे लोकभाषा में निबद्ध करने का साहस उन्होंने जुटाया। यही कथा *रामचरितमानस* बनी। इस कथा में किसी तरह की भक्ति की विचारधारा नहीं है, उसमें क्लासिकल विचारधारा है जिसके मुख्य घटक हैं : सीमाओं के अतिक्रमण से पैदा हुए अभिमान का विखंडन, नियतिवाद या अवतारवाद का पोषण यानी ब्राह्मणवाद को समाज में स्वीकार्य बनाये रखने के लिए बौद्धिक संघर्ष।

दशरथ-कैकेयी प्रसंग को भी इसी विचारधारा के प्रकाश में व्याख्यायित किया जा सकता है। तुलसी ने *रामचरितमानस* की क्लासिकल विचारधारा के एक अहम घटक को एक चौपाई में यों व्यक्त किया है :

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन **अभिमान** न राखहिं काऊ ।।

सीमाओं का अतिक्रमण करने से जो अभिमान उपजता है, राम उसे नहीं बख़्शते, भले ही वह 'जन' उनका अपना लोकपिता दशरथ हो, वानरों का राजा बालि हो, लंका का राजा रावण हो, ब्रह्मा का बेटा नारद जैसा ऋषि हो या गरुड़ जैसा देववाहन हो, या सती जैसी देवपत्नी हो या खुद उनकी अपनी सीता हो। वानरों के राजा बालि

ने मरते समय राम के सामने बहुत ही मुश्किल सवाल रख दिया था, उसने कहा, कैसे 'समदरसी रघुनाथ' हैं आप, आपके लिए तो सब जन एक समान होने चाहिए, तो फिर

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा । अबगुन कवन नाथ मोहिं मारा ।।

तुलसीदास ने बालि के लिए 'महा अभिमानी' शब्द का प्रयोग किया, उसकी पत्नी ने उसे समझाया कि राम के साथ उसे संग्राम नहीं करना चाहिए तो उसने पत्नी की बात नहीं मानी, और कहा मरने में भी कोई बुराई नहीं, 'अस कहि चला **महा अभिमानी** / तृन समान सुग्रीवहिं जानी।' और राम ने भी उसे मारने का यही तर्क दिया :

मूढ़ तोहि **अतिसय अभिमाना** । नारि सिखावन करसि न काना ।।
मम भुजबल आश्रित तेहि जानी । मारा चहसि **अधम अभिमानी** ।।

रावण के विनाश का भी यही तर्क है, रावण भी 'महा अभिमानी' है। *रामचरितमानस* में रावण के साथ यह विशेषण अनगिनत बार आया है, जब बानर सेना लंका घेर लेती है, (देखें लंकाकांड, दोहा 39 के बाद का वर्णन) तो 'लंका भयउ कोलाहल भारी / सुना दसानन **अति अहंकारी**' और इस चौपाई के बाद पांचवीं चौपाई में शिव के मुंह से कहलावाया, 'उमा रावनहिं अस **अभिमाना**...' रावण जब कुंभकरण को नींद से उठाता है तो वह पूछता है कि क्या हुआ, 'कुंभकरन बूझा कहु भाई / काहे तव मुख रहे सुखाई' तो तुलसी बाबा लिखते हैं, 'कथा कही सब तेहि **अभिमानी**/ जेहि प्रकार सीता हरि आनी।' कुंभकरण अपने भाई रावण को समझाता है कि 'अजहु तात त्यागि **अभिमाना** / भजहु राम होइहि कल्याना।' मगर रावण नहीं मानता। और जब आख़िर में रावण खुद ही युद्धभूमि की ओर चलता है, तो 'असगुन अमित होहिं तेहि काला / गनइ न भुजबल **गर्व** बिसाला'। लोक में आज भी यह कहावत प्रचलित है कि 'गर्व करे सो हारे'। युद्ध में लड़ते वक्त़ भी उसके लिए कवि ने लिखा, 'गरजेउ मूढ़ **महा अभिमानी** / धायेउ दसहु सरासन तानी।'

अभिमान को हर धर्म में पाप माना गया है, मनुष्य जब सीमाओं का अतिक्रमण करता है तो अभिमान करता है। क्लासिकल विचारधारा ने दासों को अपने कब्ज़े में रखने के लिए ऐसा साहित्य और नीतिशास्त्र रचा जो दासों को याद दिलाता रहे कि मनुष्य को अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए, ईसाई धर्म में जो महापाप गिनाये गये उनमें भी अभिमान को शामिल किया गया। हमारे यहां भी ब्राह्मणवाद ने अभिमान को आसुरी वृत्ति में रखा, *भगवद्गीता* में कृष्ण के

मुंह से कहलाया :

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुषमेव च।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।। (श्लोक 4, अध्याय 16)

आगे चल कर कृष्ण यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि आसुरी वृत्ति बंधन के लिए है, और अभिमान करने वाला ईश्वर का द्रोही होता है :

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिता।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।। (श्लोक 18, अध्याय 16)

तुलसीदास ने अपनी कृति में उसी क्लासिकल विचारधारा को केंद्र में रख कर कबीर आदि की निर्गुण भक्ति की विचारधारा से संघर्ष करके उसे पुनः स्थापित किया। अपनी कृति में ऐसे पात्र प्रमुखता से रचे जो अभिमान करके हार का मुंह देखते हैं, या कठिनाई में पड़ जाते हैं। दशरथ भी मनुष्य होने की सीमा को अतिक्रमित करते हुए देवताओं की तरह कैकेयी को 'कुछ' भी वरदान दे देने का अभिमान पाल लेते हैं, और इसीलिए उस संकट में फंसते हैं जिसे डा. नित्यानंद तिवारी ने 'उभयतोपाश' कहा है। तुलसीदास ने अपनी कृति में अभिमान करने वाले नर, वानर, राक्षस, देवता, प्रिय, अप्रिय सभी को सबक़ सिखाया है। निशाना तो उन्होंने कबीर जैसे ब्राह्मणवादविरोधी संतों पर साधा है, इसके लिए सूक्ष्म तरीक़े से ज्ञान का अभिमान करने वाले यानी सीमा का अतिक्रमण करने वाले हर पात्र को मुसीबत में पड़ते हुए दिखाया है। शिव की पहली पत्नी सती, विष्णु के वाहन गरुड़, इंद्र, और ब्रह्मा के बेटे नारद आदि सभी के अभिमान का इलाज *रामचरितमानस* में कराया गया है। इनमें से कुछ रामकथा सुन कर अभिमान के पाप से मुक्त होते हैं, इसलिए *रामचरितमानस* में शिव अपनी पत्नी पार्वती को, काकभुशुंडि गरुड़ को, और बाबा तुलसीदास अपने पाठकों को रामकथा सुना रहे हैं। अभिमान करने वाले हर पात्र को कुछ न कुछ दंड भुगतना पड़ता है, राजा दशरथ को प्राणत्याग करना पड़ा, असुरों को भी प्राण देने पड़े, बालि को भी प्राण दंड मिला, नारद एक जगह नहीं टिक सकते थे, सो उनका इलाज अलग तरह से करना पड़ा, उन्हें मारा नहीं जा सकता था। *रामचरितमानस* में नारद के अभिमान का प्रसंग सबसे ज़्यादा मनोरंजक है। तुलसी पहले तो याज्ञवल्कि से भरद्वाज को कथा सुनवाते हैं, फिर शिव विवाह के बाद पार्वती शिव से आग्रह करती हैं तो शिव पार्वती को सुनाने लगते हैं। शिव बताते हैं कि अनेक कल्पों में राम अवतार अनेक तरह से हुए हैं, रावण के भी कई बार अवतार हुए। बालकांड में उन तमाम प्रसंगों को लिया गया है जिनमें अलग अलग कारणों से रावण अवतार होते रहे और उसके विनाश के लिए राम अवतार हुए। विश्वहिंदू परिषद और आर एस एस के अज्ञानी नेताओं को पूरा *रामचरितमानस* न सही, बालकांड ही पढ़ लेना

चाहिए तो शायद उन्हें तीन सौ रामायणों की बात समझ में आये और शर्म भी। 'शर्म उनको मगर नहीं आती'।

एक कल्प में रामावतार का वर्णन करते हुए तुलसी नारदप्रसंग को ले आते हैं। एक अच्छी मनोरम जगह देख कर नारद तपस्या करने बैठ जाते हैं तो इंद्र को डर लगने लगता है, वह विघ्न डालने के लिए उनके पास कामदेव को भेजता है। नारद विचलित नहीं होते और कामदेव लज्जित हो कर उनसे क्षमा मांग कर चला जाता है। बस, इसके बाद बाबा जी को कामजित होने का अभिमान हो जाता है।

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम **अहमिति** मन माहीं।।
मार चरित संकरहिं सुनाए। अतिप्रिय जानि महेस सिखाए।।
बार बार बिनवउं मुनि तोहीं। जिमि यह कथा सुनायहु मोहीं।।
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूं। चलेहुं प्रसंग दुराएहु तबहूं।।

नारद नहीं माने और पहुंच गये विष्णु के पास, उन्हें भी अपने कामजित होने का कारनामा सुना दियाः

'काम चरित नारद सब भाषे / जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे।।'

विष्णु ने चुटकी ली और कहा कि आपको भला कामदेव कैसे सता सकता है, नारद ने विनम्रतावश प्रशंसा के लिए धन्यवाद ज्ञापन किया,

'नारद कहेउ सहित **अभिमाना** / कृपा तुम्हारि सकल भगवाना।।'

विष्णु ने जान लिया कि नारद के मन में गर्व का पेड़ उग आया है जिसे उखाड़ देना ज़रूरी है,

करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ **गरब तरु** भारी।।
बेगि सो मै डारिहउं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी।।
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई।।
तब नारद हरि पद सिर नाई। चले हृदय **अहमिति** अधिकाई।।

और विष्णु अपने तरीक़े से नारद का अभिमान चूर चूर कर देते हैं, मायानगरी में राजा और उसकी कन्या की रचना करके नारद को उसी तरफ़ रवाना कर देते हैं, नारद उस लड़की पर फ़िदा हो जाते हैं, और 'कामजित' बाबा जी उससे शादी करने का निश्चय कर लेते हैं, विष्णु के पास जा कर अनुरोध करते हैं कि वे उन्हें अपना रूप दे दें, मगर विष्णु उनको बंदर का रूप देते हैं, स्वयंवर में शिव के दो गण उनका मज़ाक उड़ाते हैं, लड़की नारद की ओर देखती तक नहीं, 'पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं / देखि दसा हर गन मुसकाहीं' और आख़िर में वे नारद से कह ही देते हैं, कि शीशे में जा कर अपनी शक्ल तो देख लो। बस नारद पानी में अपनी शक्ल देखते ही क्रोध से आगबबूला हो जाते हैं। वे उन दोनों गणों को निशाचर के रूप

में जन्म लेने का शाप देते हैं, और विष्णु को रामावतार के दौरान 'नारि विरह' में जलने का शाप देते हैं। इस तरह एक कल्प में रावण और राम के अवतार के मूल कारण की व्याख्या वे याज्ञवल्कि के द्वारा करवा देते हैं। तुलसी इस हलके फुलके प्रसंग से भी उसी क्लासिकल विचारधारा को पुष्ट करते हैं जिसमें कहा गया है कि मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। सीमाओं का अतिक्रमण करके जिसने भी अभिमान किया उसे दंडित किया गया। दशरथ प्रसंग भी उसी क्लासिकल विचारधारा की पुष्टि का ही एक प्रसंग है, मनुष्य ईश्वर की तरह किसी को मन मांगा वरदान देने की हिमाक़त करेगा तो मुसीबत में फंसेगा, भले ही वह मनुष्य लोक में राम का पिता दशरथ ही क्यों न हो! या लक्ष्मणरेखा लांघने वाली अपनी पत्नी सीता ही क्यों न हो!

रामचरितमानस की रचना सामंती समाज के ऐसे संकट काल में हुई जब उसके प्राचीन ढांचे को दलितों और कारीगरों की ओर से चुनौती मिल रही थी जो अवतारवाद के ख़िलाफ़ जन जागृति फैला रहे थे, ब्राह्मणवाद पर हमले हो रहे थे। क़बीर कह रहे थे कि 'पंडित वाद वदै सो झूठा', 'साधो, आयी सांच की आंधी' वग़ैरह वग़ैरह। ऐसे में तुलसीदास ने अपनी रचना से उस समाज में विश्व के सभी महाकाव्यों में निहित क्लासिकल विचारधारा की परंपरा जैसी ही विचारधारा यानी ब्राह्मणवाद की पुनः प्रतिष्ठा कर दी जो आज तो उन तमाम समुदायों के दिल दिमाग़ पर भी हावी है जिनके ज्ञानमार्गी गुरु या फिर धर्मसंस्थापक ब्राह्मणवाद के कट्टर विरोधी थे। मुक्तिबोध ने ठीक ही टिप्पणी की थी :

> एक बार भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। यह घोषणा तुलसीदासजी ने की थी। ---निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवादविरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदासजी ने पुराणमतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया।
>
> --(*मुक्तिबोध रचनावली-5*, पृ. 291)

***अनभै सांचा*, जुलाई-सितंबर 2012 में प्रकाशित**

तुलसी : मेघ जी के वातायन से

चंचल चौहान

रमेश कुंतल मेघ हिंदी के उन मूर्धन्य आलोचकों में से एक हैं जिन्होंने ज्ञान की बहुल धाराओं को अपने में समाहित करके हमारे आलोचनाशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र दोनों को समृद्ध किया है। वे प्राचीन भारतीय वाङ्मय के भी विकट अध्येता रहे हैं और आधुनिक ज्ञान से भी लैस हैं। उनके विपुल लेखन का आकलन एक लेख में संभव नहीं है, यह काम तो हिंदी के शोधार्थी करेंगे या कहीं कर भी रहे होंगे, मैं तो उनकी पुस्तक, *तुलसी : आधुनिक वातायन से,* पर इस लेख को केंद्रित करूंगा जिसमें मेरी दिलचस्पी उसी समय से है जब यह प्रकाशित हुई थी। 1973 में, 'मानस चतुश्शती' के दौरान जामिया मिल्लिया इस्लामिया में एक संगोष्ठी हुई थी, मैं आलोचना लेखन के मैदान में नया नया दाख़िल हुआ था, पता नहीं कैसे, मुझे भी आयोजकों ने बुला लिया था। प्रो. उदयभानु सिंह की अध्यक्षता में एक लेख मैंने भी तुलसीदास पर पढ़ा था जो आयोजकों के हवाले कर दिया था। मेरे पास उसकी प्रति नहीं है। रमेश कुंतल मेघ के तुलसी पर विचार उसी दिन सुने थे। उसी से दिलचस्पी जगी और किताब आने पर उसे कई बार पढ़ा। लिखने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। उस दौर में मैं आलोचना पर आलोचना तभी लिख पाता था जब किसी आलोचना में साम्राज्यवादी खेमे द्वारा प्रचारित रूपवाद का कोई विचारधरात्मक छौंक दिखायी देता था। इसी वजह से नयी समीक्षा, शैलीविज्ञान, रीतिविज्ञान आदि से विचारधारात्मक संघर्ष की धुन में ही मैंने आलोचना लेखन उस दौर में किया। डा. नामवर सिंह की, *कविता के नये प्रतिमान,* में अमेरिकी रूपवादी समीक्षा के प्रतिमानों की झलक दिखायी दी तो उस पर लिखा, अशोक वाजपेयी की फ़िलहाली समीक्षा पर भी कलम चलायी। फिर डा. रामविलास शर्मा की व्यक्तित्व-आधारित समीक्षा की भी आलोचना की जिसे अंग्रेज़ी में 'बायोक्रिटिसिज़्म' कहा जाता है। चूंकि रमेश कुंतल मेघ की बहुत सी विचारधरात्मक मान्यताओं से सहमति बनती थी, इसलिए मुठभेड़ वाली समीक्षा संभव ही नहीं थी। सो उस समय कुछ लिखा न जा सका। इधर तुलसी की विचारधरा पर डा. नित्यानंद तिवारी का एक लेख, *अनभै सांचा* पत्रिका के अप्रैल-जून 2012 के अंक में छपा जिससे वैचारिक विमर्श की संभावना बनती थी सो मैंने एक लेख तुलसी

की विचारधारा पर फिर से लिख डाला। तुलसी पर लिखते समय रमेश कुंतल मेघ की किताब की याद आना स्वाभाविक ही है, इसलिए लगा कि तुलसी को रमेश कुंतल मेघ के वातायन से एक बार क्यों न देख लिया जाये। इसी प्रक्रिया में यह लेख उपजा है।

मेघ जी की यह किताब, 'हिंदी की नयी बौद्धिकतावादी परंपरा को समर्पित' है। उनका आग्रह हमेशा 'नयी' पर रहा है। वे द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के ज्ञान में पारंगत होने के कारण यह प्राकृतिक नियम जानते हैं कि 'नया' पुराने का निषेध कर उपजता है और परिवर्तन की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। इस नयेपन के रचनात्मक अंदाज़ में उन्होंने अपनी आलोचनाकृति को पुराने ढर्रे पर 'अध्यायों' या 'खंडों' में नहीं बांटा है, अपने विमर्श को 'गोष्ठी' नाम दिया है और यह तो जगप्रसिद्ध है कि वे आलोचनाशास्त्र में अनेक नये शब्द गढ़ते और जोड़ते आये हैं, दुरूहता तक का ख़तरा उठा कर। उनके लेखन को ले कर एक लतीफ़ा, सच या झूठ, कहीं सुना था कि हजारीप्रसाद द्विवेदी को जब मेघ जी ने अपनी एक नवप्रकाशित किताब दी तो उन्होंने उसे उलट पलट कर देखा और कहा कि इसका हिंदी अनुवाद करवा लें, तभी पढ़ूंगा। मेघ जी संदर्भ के अनुसार 'सत्यता' और 'यथार्थता' जैसी दुहरी भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग भी अपने लेखन में करते हैं जबकि हम सब सिर्फ़ 'सत्य' और 'यथार्थ' जैसे रूढ़ हो गये शब्दों से काम चला लेते हैं। भाषा की दुरूहता की समस्या इस किताब में नहीं है, मगर विचार गंभीर हैं और शोध के श्रम को लक्षित तो करते ही हैं, मेघ जी के अपरिमित ज्ञान की पूरी झलक इस किताब में मिलती है।

मेघ जी ने अकूत शोधवृत्ति से तुलसी के जीवन और कृतित्व पर ऐतिहासिक भौतिकवादी और द्वंद्वात्मक भौतिकवादी नज़रिये से इस पुस्तक की अपनी 'गोष्ठियों' की संरचना की है। उन्होंने अपनी इस वैचारिक प्रतिबद्धता को छिपाया नहीं। प्रारंभ में ही कहा, 'हमने ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण की सहायता ले कर इसका नयी नयी दिशाओं में पुनःसंस्कार तथा अंतर-रूपांतर ('मेटामारफ़ोसिस') किया है।' इससे स्पष्ट है कि मार्क्सवाद की इन दोनों पद्धतियों की उनकी 'प्रैक्सिस' भी रूढ़िवाद से मुक्त है, हालांकि डा. रामविलास शर्मा की ही तरह या हिंदी के अधिकतर पुराने मार्क्सवादी आलोचकों की ही तरह वे भी 'बायोक्रिटिसिज़्म' की जकड़बंदी में कहीं कहीं आ गये हैं।

'पहली गोष्ठी' से पहले नये संस्करण की प्रस्तावना के तौर पर लिखे गये अध्याय में मेघ जी रामकथा के ऐतिहासिक विस्तार और उसकी विविधता का एक शोधपरक ज़ायजा लेते हैं जो ए के रामानुजन की तीन सौ रामायणों के लेख से भी

कहीं ज़्यादा गवेषणापूर्ण है और तमाम साक्ष्यों के साथ लिखा गया है। अपने अध्ययन को उन्होंने तुलसी के देशकाल तक सीमित नहीं रखा, उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप में समाज के विकास के विभिन्न चरणों और सभ्यताओं के विकास की मंज़िलों के साथ रामकथा के बदलते रूपों का भी आलोचनातमक ज़ायजा लिया है। उनका यह अध्ययन सिर्फ़ उत्तर भारतीय या गंगा-यमुना के दोआबा की संस्कृतियों तक ही सीमित नहीं है, उसमें पूरे उपमहाद्वीप की इतिहास परंपरा के बीच रामकथा के विभिन्न रूपों की खोजबीन है। हिंदुत्ववादी आतंकी तत्वों ने और दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर व विद्वत्परिषद ने मेघ जी का यह अध्याय पढ़ा होता तो शायद उन्हें रामानुजन के लेख को कोर्स से निकालने का अपराध न करना पड़ता। यह मेघ जी की विद्वत्ता का ही वातायन है जिसके माध्यम से तुलसी की रामकथा के सारे आयामों में पाठक झांक सकता है। इस प्रस्तावनामूलक अध्याय का अंतिम पैरा पूरे विवेचन का निचोड़ हैः

> हम इतने सूर्यवंशी श्रीरामों का साक्षात्कार कर आये हैं कि भारत की सुदीर्घ सांस्कृतिक यात्रा का पूरा इतिहास प्रकट हो जाता है। श्रीराम एशिया के इतिहासरथ के दर्शन और संस्कृति की धुरी भी हैं। तुलसी के कुछ श्रीराम मध्यकालीन भारतीय इतिहास तथा ग्रामीण जीवन के दर्पण भी हैं। (पृ. 46)

रमेश कुंतल मेघ तुलसी के व्यक्ति और कवि रूप के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनकी विचारधारा के विश्लेषण में किसी तरह का उदारतावाद नहीं दिखाते हैं। उनकी यह पद्धति उन्हें एक ज्ञानात्मक संवेदन से लैस मार्क्सवादी आलोचक की तरह प्रस्तुत करती है। इस तरह वे न तो उच्छेदवाद की अति के शिकार होते हैं और न तुलसी के प्रति किसी तरह का पूजाभाव दर्शाते हैं जैसा कि रामचंद्र शुक्ल या रामविलास शर्मा या विश्वनाथ त्रिपाठी ने दिखाया। मेघजी की इस कृति की एक खूबी यह है कि इसमें तुलसी की सारी रचनाओं का विश्लेषण करके उनमें निहित स्तरभेद पूरी तर्कशक्ति से पेश किया गया है। *रामलला नहछू* से ले कर *हनुमान बाहुक* तक राम के विविध रूप और उनके प्रति रचनाकार का सलूक (एटीट्यूड) भी तुलसी की मान्यता को ही सिद्ध करता है कि 'हरि अनंत हरिकथा अनंता'। यह कमज़ोरी ज़रूर है कि अन्य बहुत से मार्क्सवादी आलोचकों की तरह उन्होंने भी तुलसी की इन रचनाओं में दिखने वाले विकास को कवि के निजी जीवन विकास से जोड़ कर 'बायोक्रिटिसिज़्म' का रुझान व्यक्त किया है जिसे काफ़ी पहले रोलां बार्थ जैसे महान आलोचक ने अतार्किक बता कर ख़ारिज कर दिया।

मेघ जी की इस पुस्तक के पहले और दूसरे अध्याय (जिन्हें उन्होंने गोष्ठियों

का नाम दिया है) उनकी विद्वत्ता और शोधपरक अंतर्दृष्टि का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पहले अध्याय में तुलसी के समय के मध्यकाल का सजीव विश्लेषण किया है, एक अध्ययनशील मार्क्सवादी चिंतक की ही तरह उन्होंने इस तथ्य को रेखांकित किया है : 'भारतीय मध्यकाल में राज्यवंशावलियों तथा घटनात्मक इतिहास का ब्यौरा तो मिल जाता है किंतु जनता का इतिहास लगभग नहीं मिलता।' मेघ जी ने उस काल का, ऐतिहासिक भौतिकवादी नज़रिये से, अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया जिसकी तरफ़, मुक्तिबोध को छोड़ कर, पहले किसी हिंदी आलोचक की निगाह नहीं गयी थी, पुरातनपंथी तुलसी विशेषज्ञों का इस दिशा में किसी प्रयत्न का तो सवाल ही नहीं उठता। मेघ जी ने इस युग का आकलन करते हुए अपनी केंद्रीय मान्यता पेश करते हुए लिखा :

> पूरे भारतीय मध्यकाल के समाज, संस्कृति, कला, धर्म, दर्शन, क़ानून आदि का मूलाधार भूमि-व्यवस्था रही है। सामंतों और सूबेदारों ने इस व्यवस्था में राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति को अपने अधिकार में रखा है और कृषकों को हमेशा शोषण का शिकार रखना पड़ा है। यह सामंतीय व्यवस्था कुछ ऐसी थी जिसमें दुर्बल शक्तिवानों की सेवा करते थे तथा यह सशक्त के हित में था कि वह दुर्बलों की रक्षा करे। इन सबके ऊपर सम्राट था जो ईश्वरावतार, कृपानिधन शरणागतवत्सल और समदर्शी पिता आदि होता था। (पृ.49)

इस सिलसिले में मेघ जी से एक चूक हो गयी कि उन्होंने सामंतकाल को 'हिंदू सामंत काल' और 'मुस्लिम सामंत काल' की दो श्रेणियों में बांट दिया है हालांकि यह विभाजन सीधे तौर पर नहीं किया गया है, प्रवृत्तियों के विश्लेषण में समाहित हो गया है, 'मुसलिम मध्यकाल' और 'मुसलिम युग' जैसी श्रेणियों का उल्लेख तो है जबकि मेघ जी का मंतव्य मुग़लशासन में हुए सकारात्मक सामाजिक परिवर्तनों जैसे भक्ति आंदोलन के उभार आदि को रेखांकित करना था जो सही भी है। मगर सामंती व्यवस्था वाले युग को हम किसी मज़हब से नामांकित नहीं करते, उत्पादन के साधन और उत्पादन संबंधों से ही युग का नामांकन होता है और इसी आधार पर मेघ जी ने खुद उस समय को सामंतकाल ही बताया है, सल्तनत बदलती रही, सामंत युग बना रहा। जिस तरह आज कल केंद्र में पार्टियां बदलती रहती हैं, शासन बड़े इज़ारेदारों और बड़े भूस्वामियों के गठजोड़ का ही रहता है और हम सभी लेखक मोटे तौर पर इसे पूंजीवादी युग के तौर पर जानते हैं।

मेघ जी ने 'पहली गोष्ठी' में तुलसी के कृतित्व की व्याख्या, उस युग को

अकादमिक समाजशास्त्रीय प्रणाली से विवेचित करके एक नये तरीक़े से की जिसमें एक अद्‌भुत अंतर्दृष्टि दिखायी देती है। क़बीलाई समाज के 'टोटेम' से ले कर ग्राम्य समाज के तमाम विश्वासों और परंपराओं का विश्लेषण एक मंजे हुए समाजशास्त्री की तरह उन्होंने किया है जो हिंदी साहित्य में दुर्लभ है। वे तुलसी की रचनाप्रक्रिया में 'ग्राम्यीकरण' को रेखांकित करते हैं और वीरगाथाकाल के रचनाकर्म से अलगा कर उसे एक सकारात्मक क़दम मानते हैं। भाषा, काव्यशास्त्र, सौंदर्यबोध और कथ्य आदि सभी स्तरों पर तुलसी इसी वजह से किसानों के मर्म तक को छू लेते हैं। मेघ जी के ही शब्दों में, 'सारांश यह, कि तुलसी ने मध्यकाल के अपने पूर्ववर्ती शौर्यवृत्त की परंपरा को छिन्नभिन्न करके समवर्ती शीलवृत्त को प्रधानता दी, और 'संपूर्ण' कथानक की चेतना का ग्राम्यीकरण कर डाला।'(पृ. 95)

अपने इस निष्कर्ष को उन्होंने तुलसी की रचनाओं में पैठ कर पुष्ट किया, इसलिए उनकी व्याख्या पूरी तरह सारगर्भित और अन्य व्याख्याओं से अलग है। अपनी इस व्याख्या में वे एकांगी भी नहीं हुए हैं, तुलसी की विचारधारा की अनदेखी करके किसी अंधभक्त की तरह 'लोकवादी' सिद्ध करने की कोशिश मेघ जी ने नहीं की है। जहां तुलसी के कविकर्म के सकारात्मक पहलुओं का समाजशास्त्रीय विवेचन करके उनके साहित्यिक अवदान की सराहना की है, वहीं उनकी 'कमज़ोरियों' की निशानदेही भी उन्होंने की। उन्होंने किसी लागलपेट के बग़ैर यह लिखा कि 'कबीर की तरह तत्काल के विद्रोही आलोचक के बजाय सौम्य और रोऊ योगी होने के कारण तुलसी ने लोक के अंधविश्वासों, प्रपंचों तक का उदात्तीकरण किया है। वे खंडन करने की विद्रोही जागरूकता ही नहीं रखते हैं।'(पृ.93) तुलसीदास की एक और कमज़ोरी की सही पड़ताल मेघ जी ने की जो हमारे आज के लेखक समुदाय पर भी लागू होती है। उन्होंने लिखा :

> तुलसी की कमी यह रही कि उन्होंने अपनी वर्ग-चेतना को समाज-आलोचना में बहुत कम रूपांतरित किया, जब कि कबीर आदि निर्गुण संतों ने वर्ग-चेतना की ज़मीन पर तत्कालीन समाज की क्रांतिकारी आलोचना की और वर्ण-चेतना 'शूद्र वर्ण की' को भी वर्ग-चेतना की परंपराभंजक बदमस्ती प्रदान की। तुलसी ने विद्रोही क्रांति नहीं, नैतिक संक्रांति करके समाज की आदर्शवादी रचना की है। (पृ.94)

इतना ज़रूर है कि वे तुलसीदास को यह श्रेय तो देते ही हैं कि उन्होंने वीरगाथाकाल के दरबारी कवियों की तरह किसी सामंत का आश्रय नहीं चाहा, हाड़मांस के 'प्राकृत जन' के रूप में किसी सामंत विशेष का गुणगान नहीं किया। मेघ जी ने तुलसी

साहित्य में वर्णित प्राकृत जन की उन तमाम श्रेणियों यानी सामंतों से ले कर ग्रामसमाज और आदिम समाज तक का समाजशास्त्रीय अनुसंधान करने का नया काम किया जो अन्य किसी तुलसी मर्मज्ञ के यहां नहीं मिलता। तुलसी इन तमाम श्रेणियों को सगुण भक्ति के दायरे में लाना चाहते थे, जबकि वे इनके बीच मौजूद अंतर्विरोध नज़रअंदाज़ कर रहे थे। यही वजह है कि उनका साहित्य सामंती व्यवस्था का अतिक्रमण करने की क्षमता नहीं रखता था, बल्कि उसे और अधिक पुष्ट करता गया, उसे वैधता प्रदान करता गया क्योंकि उसके मूल में ब्राह्मणवादी क्लासिकल विचारधारा की परिपुष्टि हो रही थी।

मेघ जी ने 'दूसरी गोष्ठी' में तुलसी के समय के समाज और इतिहास का शोधपरक चित्रण किया है। अकबर के समय के समाज की विशेषता को उन्होंने 'समन्वय' की प्रवृत्ति में देखा है। उन्होंने लिखा :

> अकबर के समय में 'समन्वय' ही संस्कृति का प्रतीक हो गया। इस समय के सभी समाजोन्मुख संस्कृतिनिर्माताओं को समन्वय करना पड़ा। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में अकबर ने, तथा धर्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में तुलसी ने यह समन्वय किया। (पृ.108)

मेघ जी की इस स्थापना में मुझे आंशिक सत्य दिखायी देता है, अकबर को अपनी शासन व्यवस्था चलाने के लिए समन्वय की नीति अपनानी ज़रूरी थी, जिस तरह आधुनिक भारत के विकास के लिए धर्मनिरपेक्षता की नीति अपरिहार्य है। तुलसी सगुण और कर्मकांडी धर्मिक तत्वों के अलग अलग गुटों जैसे कि शैवों, शाक्तों आदि में समन्वय करके अवतारवाद में विश्वास रखने वालों में ही समन्वय करने की कोशिश में ज़्यादा मुब्तिला दिखते हैं, निर्गुण संप्रदाय से तो उनकी और सूरदास की भयंकर कलह दिखायी देती है। उनसे समन्वय की जगह वे संघर्ष ही करते हैं। मेघ जी भी इस सच्चाई का उदाहरणों के साथ उद्घाटन करते हैं। पूरा *रामचरित मानस* कबीर की ब्राह्मणवादविरोधी विचारधरा के खंडन में ही रचा गया लगता है, हालांकि वे निर्गुण ब्रह्म में विश्वास रखने वालों को आश्वस्त करते हैं कि 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा', मगर कोशिश यही थी कि वर्चस्व उनकी अपनी ब्राह्मणवादी सोच का ही रहे। हुआ भी यही, सामंतवाद के अपने वर्चस्व की ज़मीन पर टिका ब्राह्मणवाद ही अंत में जीत गया और आज तक टिका हुआ है। मनुष्य मनुष्य के बीच नाबराबरी के उसूल पर टिका ब्राह्मणवाद कबीर, नानक, दादू, रैदास के अनुयायियों के बीच भी अब खूब फलफूल रहा है, उन्होंने वे सारे कर्मकांड अपना लिये हैं, जिनका खंडन करने के लिए ये सारे संत जीवन भर संघर्ष करते रहे। मुक्तिबोध ने ठीक ही लिखा था :

> एक बार भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। यह घोषणा तुलसीदासजी ने की थी।...निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदासजी ने पुराणमतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। (*मुक्तिबोध रचनावली-5*, पृ. 291)

मेघ जी ने अपनी पुस्तक के इस खंड में सबसे अधिक शोधपूर्ण कार्य उस समय व समाज की ग़रीबी के मूल कारणों की व्याख्या को लेकर किया है, वे तुलसी साहित्य में वर्णित 'कलिकाल' के माध्यम से, दर असल, अपनी मार्क्सवादी समझ के अनुसार जनता की ग़रीबी का सही विश्लेषण करते हैं जिसका मूलाधर सामंती भूव्यवस्था है। इसी से उत्पन्न सामंती मूल्यव्यवस्था और आचार संहिता से बंधे तुलसी के विचारों की आलोचना भी मेघ जी ने की है जिसमें शूद्रों और नारियों के प्रति उनके रुख़ को ख़ासतौर से रेखांकित किया है। इस तरह पुस्तक के इस खंड में भी मेघ जी ने युग के अंतर्विरोधों के रूप में ही तुलसी साहित्य में मौजूद अंतर्विरोधों और उस साहित्य के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं को विश्लेषित किया है, कुछ भी आरोपित नहीं किया है। तुलसी साहित्य से ही उन्होंने उस समय की सामाजिक संस्थाओं, घर, परिवार, विवाह आदि का समाजशास्त्रीय शोधपरक विश्लेषण भी इसी खंड में किया है। मेघ जी ने साहित्य के बारे में लेनिन के 'प्रतिबिंबन सिद्धांत' का एक तरह से यहां अमल किया है।

मेघ जी ने पुस्तक के तीसरे खंड में जिसे वे 'तीसरी गोष्ठी' कहते हैं, तुलसी की जीवनी की एक तसवीर खींचने की कोशिश की है। हिंदी आलोचना की इस प्रवृत्ति से मेरा शुरू से ही विरोध रहा है, किसी भी रचना को रचनाकार के जीवन से जोड़ने की कोशिश एक दम अवैज्ञानिक और भ्रामक मानी जाती है। इस अवैज्ञानिक पद्धति के शिकार प्रारंभिक दौर के लगभग सभी मार्क्सवादी आलोचक रहे हैं, प्रकाश चंद्र गुप्त रहे हों या रामविलास शर्मा या आज के कई आलोचक, वे कविता में से कवि के जीवन की जो तस्वीर खींचने की कोशिश करते हैं, वह एक कपोल कल्पना से अधिक कुछ नहीं होती। तुलसी जैसे महाकाव्य के रचयिता के संदर्भ में तो यह कोशिश और भी अविश्वसनीय हो जाती है क्योंकि महाकाव्य में कल्पना की बहुत ऊंची उड़ान ली जाती है, ऐसे काव्य के बीच में से कवि का निजी जीवन ढूंढ़ना और उसके कहे हुए का विश्वास कर लेना क़तई सही नहीं है। यथार्थवाद का जन्म पूंजीवाद के विकास से जुड़ा हुआ रहा है, सामंती समय में तो यह संभव ही नहीं था, मगर आज भी यह संभव नहीं है जब कि आज का युग यथार्थवादी साहित्य का है। तुलसी अगर अपने बारे में यह कहते हैं कि 'मो सम

कौन कुटिल खल कामी' या 'कवित विवेक एक नहिं मोरे / सत्य कहहुं लिखि कागद कोरे ' तो क्या आप इस लिखे को उनका जीवन सत्य मानकर इन कथनों पर विश्वास कर लेंगे? उनका सारा कथन एक अतिशयोक्ति अलंकार या अभिजात शालीनता या इसी तरह के दूसरे विलक्षण कल्पनाप्रसूत संरचनाओं से लैस है। यह सत्य खुद मेघ जी स्वीकार करते हैं जब वे चौथे खंड में टालकॉट पार्सस के दो तरह के विचारों के सिद्धांत को उद्धृत करते हुए यह कहते हैं कि 'काव्य, विशेषकर, धार्मिक काव्य में ये दोनों ही अतिशयोक्तिपूर्ण होते हैं।' ऐसी स्थिति में ऐसे काव्य में जीवनचरित ढूंढ़ना हमेशा दूर की कौड़ी ही माना जायेगा। सच्चाई तो यह है कि हर बड़े कवि का जीवन रचना के समय समाधिस्थ हो जाता है, यानी खुद के जीवन से दूर, सामने होता है सिर्फ़ कल्पना लोक, उसमें रचे गये उसके पात्र। कवि खुद कहीं नहीं होता।

पुस्तक का चौथा खंड तुलसी की पात्र रचना की टेकनीक का समाजशास्त्रीय आकलन करता है, मेघ जी का विशाल अध्ययन और उनकी शोधवृत्ति से यह खंड अदभुत बन पड़ा है, वे मिथक, प्रतीक और इतिहास जैसी इनकी स्वीकार्यता की एकदम सटीक वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं जो हमें अन्य तुलसी अध्ययनों में दिखायी नहीं पड़ती। उन्होंने प्रतीक और मिथक के उद्‌गम का अध्ययन पेश करते हुए रामकथा के प्रतीकों और मिथकों में निहित 'दुहरेपन' को रचना की गहराई में जाकर उद्‌घाटित किया। उन्होंने लिखा : 'मिथकीय प्रतीकीकरण की वजह से *मानस* के पात्र व घटनाएं अर्थगत दुहरेपन, इतिहास-मिथक के कालगत दुहरेपन तथा लौकिक अलौकिक के स्थानगत दुहरेपन को लिये हैं।' इस तरह के सिद्धांत-निरूपण में मेघ जी ने पाश्चात्य विद्वानों के अध्ययनों का भी सहारा लिया है जिन्होंने मिथकों के भीतर छिपे यथार्थ को उद्‌घाटित करने के सिद्धांत निरूपित किये। वे तुलसी के *मानस* में पात्र रचना का गहन समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने के बाद निष्कर्ष के तौर पर यह कहते हैं कि 'इस भांति, राम-अयन में मिथकीय...ऐतिहासिक...और आध्यात्मिक तत्वों का मेल है क्योंकि इस कथा के 'मूल सर्जक विचारबीज' बहुत पुराने तथा गहरे हैं।' इस सच्चाई को खुद तुलसी ने अपने महाकाव्य के मंगलाचरण में ही बता दिया कि उनकी रचना 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' है। मेघ जी जिस 'मूल सर्जक विचारबीज' की बात करते हैं, दर असल, वह दाससमाजों की क्लासिसिज़्म की विचारधरा है जो दुनिया के हर महाकाव्य में निहित रही है जिसके बग़ैर महाकाव्य की रचना संभव नहीं।

हिंदी आलोचना में क्लासिसिज़्म की इस विचारधरा के बारे में स्पष्टता का अभी तक अभाव है। डा. नित्यानंद तिवारी ने *अनभै सांचा* पत्रिका के अप्रैल-जून

2012 के अंक में छपे लेख में जो विचार व्यक्त किये या *रविवारी जनसत्ता* के 5 मई 2013 के अंक में अशोक वाजपेयी ने अपने स्तंभ, 'कभी कभार' में महाकाव्य आज के समय में न लिखे जाने या महाकाव्य के बारे में जो कुछ शब्दजाल बुना, उससे तो यही लगता है कि हिंदी लेखक समुदाय आज भी क्लासिसिज़्म की इस विचारधारा के सारतत्व से अनभिज्ञ है। क्लासिसिज़्म और रोमांटिसिज़्म के अंतर को स्पष्ट करते हुए टी. ई. ह्यूम ने बताया था कि क्लासिकवादी विचारधारा यह संदेश देती है कि 'मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता', जबकि रोमांटिसिज़्म सीमाओं से मुक्त होने का संदेश देता है, वह मनुष्य की मुक्ति की विचारधारा है जो फ्रांस की पूंजीवादी क्रांति के मुक्ति संदेश से उत्पन्न हुई। क्लासिकवाद के महाकाव्य और नाटक के नायक अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने के अपराध में दंडित होते हैं, उस विचारधारा में हर किसी की नियति पहले से तय है, ग्रीक त्रासदी का महानायक, इडिपस अपनी पूर्वनिर्धारित नियति का अतिक्रमण करने की कोशिश करता है, मगर होता वही है जो 'मंजूरे खुदा होता है' या बक़ौल तुलसी 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'। ग्रीक मिथक में इकारस ने मोम के पंख लगा कर सूरज तक पहुंचने की कोशिश की तो उसे वापस ज़मीन पर गिरना पड़ा, त्रिशंकु की तरह की कोशिश थी यह, सीमाओं के अतिक्रमण करने की कोशिश। ग्रीक महाकाव्य में प्रमथियस को स्वर्ग से आग चुरा लाने की सज़ा दी गयी, उसे चट्टानों से बांध दिया गया, वह क्लासिकल विचारधारा का नायक है, रोमांटिक युग का कवि शैले उसे बंधनमुक्त कर देता है। क्लासिकल विचारधारा की पुष्टि के लिए दासयुग में एस्ख़ाइलस ने अपनी कृति, *प्रमथियस बाउंड* लिखी थी, उभरते पूंजीवादी युग में शैले ने उसे उलट कर, *प्रमिथियस अनबाउंड* रची। बस, मुक्ति की विचारधारा के प्रसार के बाद महाकाव्य की संभावना पूंजीवादी समाजों में हमेशा के लिए ख़त्म हो गयी, इसीलिए अमेरिका के साहित्य में महाकाव्य नहीं रचा गया। यह बात अशोक वाजपेयी को नहीं मालूम, शायद इसीलिए वे विलाप करते हैं कि 'महाकाव्य का न होना गहरे सांस्कृतिक और बौद्धिक संकट का भी साक्ष्य है।' यथास्थिति बनाये रखने वाली विचारधरा ग्रीक साहित्य में उस समय वजूद में आयी थी जब वहां गुलामी की समाजरचना थी। जयशंकर प्रसाद की *कामायनी* भी एक तरह से गुलामी से जकड़े भारत में ही संभव हो सकती थी, वह भी सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय समाज में पहले से मौजूद असमानता की क्लासिकल विचारधारा और भाववाद की पोषक कृति ही हो कर रह जाती है जो कहती है कि वर्गों की खाई कभी पट नहीं सकती। उसके काव्यनायक की यात्रा 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर' से शुरू हो कर वापस हिमगिरि के कैलास की ओर पलायन कर जाती है। नाबराबरी के

सिद्धांत पर टिकी क्लासिकल विचारधारा पश्चिम में होमर, वर्जिल, सोफ़ोक्लीज़, एस्ख़ाइलस से ले कर मिल्टन और एलेग्ज़ैंडर पोप तक यानी ग्रीक युग से लेकर सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं सदी तक और हमारे यहां ब्राह्मणवाद के रूप में व्यास, तुलसी और जयशंकर प्रसाद तक विश्वभर की महाकाव्यात्मक परंपरा में समाहित रही है, आश्चर्यजनक रूप में, देशकाल की भिन्नता के बावजूद, क्लासिकल विचारधारा ही नहीं, महाकाव्य के अनेक तत्वों में भी समानता रही है।

मेघ जी तुलसी के महाकाव्य की इस विचारधारात्मक प्रतिगामिता को भी उजागर करते चलते हैं, उस पर लीपापोती नहीं करते, और तुलसी की बाद की रचनाओं में उनके विकास को भी देखते हैं। वे कहते हैं :

> संघर्षशील सामाजिक संबंधता की दृष्टि से तुलसी ने देवता-ब्राह्मण-शूद्र की त्रयी को लिया है। अपने जीवन के आदर्शवादी चरण में उन्होंने देवताओं को पदच्युत किया है, शूद्रों के दमन को स्वीकृति दी है तथा ब्राह्मणों का उद्धार किया है।
>
> (पृ.220)

रमेश कुंतल मेघ ने अपनी पुस्तक के पांचवें खंड में तुलसी की काव्यप्रतिभा का विवेचन किया है। तुलसी को किसी भी महान कवि की तरह कविता की कला पर महारत हासिल है, भले ही उन्होंने शालीनतावश यह कहा हो कि उन्हें कविता की कला के बारे में कुछ भी आता जाता नहीं। मेघ जी ने तुलसी के 'कवित विवेक' को एक दार्शनिक सौंदर्यशास्त्री की तरह परखा है, सपाट वक्तव्यों की उनके विवेचन में गुंजाइश नहीं। उन्होंने रचनाक्रम से तुलसी काव्य की रूपगत विशेषताओं को बहुत ही विद्वत्तापूर्ण तरीके से विवेचित किया है। *रामचरित मानस* में अपनायी गयी पद्धतियों का विशद विवेचन है, उसके बाद *पार्वती मंगल* और *जानकी मंगल* की रूपगत विवेचना की गयी है। *रामलला नहछू* और *बरवै रामायण* को मेघ जी ने कला की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व नहीं दिया है, मगर *गीतावली* और *कवितावली* की काव्यकला पर गहराई से विचार किया है। *विनय पत्रिका* और *हनुमानबाहुक* की सौंदर्यात्मकता का भी अच्छा विवेचन है। मेघ जी ने इन सारी रचनाओं का शायद ही कोई सौंदर्यशास्त्रीय पहलू छोड़ा हो। ऐसा शोधपूर्ण विवेचन हिंदी में विरल ही है।

मेघ जी हिंदी में शायद सौंदर्यशास्त्र के अकेले स्तरीय विद्वान हैं, विदेश में भी उनकी इस प्रतिभा की धाक रही है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उनकी पुस्तक का छठा खंड तुलसी काव्य के ऐस्थेटिक अध्ययन से हमें अवगत कराये जो मध्यकाल के सौंदर्यबोध को परिमार्जित करता है। मध्यकाल में एक ओर तो सामंती भोगविलास और दरबारी संस्कृति से पोषित सौंदर्यबोध था, दूसरी ओर, उस सौंदर्य-बोध से लिखी गयी रचनाओं से अलग हट कर तुलसी काव्य उन रचनाओं

से भिन्न तरह के धर्मिक और आध्यात्मिक सौंदर्यबोध की सृष्टि करता है। मेघ जी ने अपनी पुस्तक के इस खंड में इसी का शोध किया है। उन्होंने पाश्चात्य जगत के कई अर्वाचीन संतों का सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन विवेचित करते हुए तुलसी काव्य के सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेषण को और भी धारदार बना दिया है। दर असल, क्लासिकल विचारधारा ने सभी समाजों में भाववाद को प्रचारित किया, भौतिकवादियों ने उनसे वैचारिक संघर्ष चलाया। ग्रीक समाज में प्लेटो ने अपने 'अनुकरण सिद्धांत' में भाववाद को पुष्ट करते हुए भौतिक वस्तुओं को जैसे कुर्सी, मेज़ आदि को मिथ्या क़रार दिया और भाव यानी आइडिया को शाश्वत बताया, उसका 'अनुकरण सिद्धांत' भाववादी सौंदर्यशास्त्र का ही उदाहरण पेश करता है। अरस्तू ने उसकी मान्यता को ग़लत ठहराते हुए कहा कि 'कला प्रकृति की अनुकृति है।' अरस्तू की इस परिभाषा ने कला को जीवजगत की अनुकृति बता कर एक भौतिकवादी सत्य उजागर कर दिया। हमारे यहां तुलसी जब यह कहते हैं कि 'उमा कहहुं मैं अनुभव अपना/ सत हरिभजन जगत सब सपना' या फिर 'गो गोचर जहं लगि मन जाई/ सो सब माया जानेहु भाई', तो वे प्लेटो की ही तरह क्लासिकल विचारधारा के भाववाद का पक्ष पेश कर रहे होते हैं। अरस्तू तो अपने गुरु प्लेटो के तर्क का विखंडन भद्रजनोचित शैली में करते हैं, हमारे यहां कबीर ब्राह्मणवादी क्लासिकल विचारधारा के भाववाद के ख़िलाफ़ सीधे ही हमला बोलते हैं, 'पंडित वाद वदै सो झूठा'। पंडितों और मौलवियों से उनका टकराव 'कागद की लेखी' और 'आंखिन की देखी' का यानी भाववाद और भौतिकवाद के टकराव का ही अक्स था।

सौंदर्यबोध में भी विचारधारात्मक टकराव होता है। मेघ जी ने तुलसी काव्य के सौंदर्यपक्ष की विवेचना करते हुए इस टकराव को ज़्यादा विश्लेषित नहीं किया, तुलसी काव्य को 'धार्मिक काव्य' बता कर उस पक्ष को रामचंद्र शुक्ल आदि की तरह ही 'समन्वयवाद' की चादर में लपेट दिया। जहां टकराव दिखाने की गुंजाइश थी वहां समाज में व्याप्त चेतना का आधार लेकर भाववादी सौंदर्यबोध को लोकसम्मत बना दिया। उदाहरण के लिए, तुलसीकाव्य में 'अलौकिकता' के समावेश के औचित्य के बारे में मेघ जी लिखते हैं :

> वस्तुतः अलौकिकता किसी काल में किसी समाज की सामाजिक यथार्थता का आश्चर्यपूर्ण प्रतिबिंब भी है। तुलसी या शेक्सपीयर के युग में लोकजन क्रमशः दैवी करिश्मों या भूतप्रेतों-प्रेतनियों पर विश्वास भी करते थे... धार्मिक काव्य में अलौकिकता का समावेश संस्कारतः विश्वास के कारण, तथा रसात्मक काव्यों में कथानक-रूढ़ि या अभिप्राय की कलात्मक विधि के कारण होता आया है। (पृ. 271)

हम यह न भूलें कि शेक्सपीयर और तुलसी से पहले अंग्रेज़ी कवि चौसर और हिंदी के निर्गुण कवि कबीरदास आदि बहुत से जड़ संस्कारों को तोड़ चुके थे। तुलसी ने अपने काव्य को मनलुभावन बनाने के लिए ही ऐसे उपादानों का सहारा लिया और सामाजिक असमानता पर आधरित क्लासिकल विचारधारा यानी ब्राह्मणवाद की बहाली में वे सफल हुए। मेघ जी ने तुलसीकाव्य के सौंदर्यपक्ष को विश्लेषित करने के लिए उसमें रूपकों, अलंकारों से ले कर उसकी 'अनिर्वचनीयता', 'अलौकिकता', उसका बिंबविधान और उसकी 'धार्मिक भाषा' तक का जो शोधपरक विवेचन इस खंड में किया है वह भी मेघ जी की उस कुशाग्र मेधा का परिचय देता है जो अपने विषय-विवेचन में किसी तरह की कोताही नहीं बरतती। इसी वजह से उनका विवेचन तुलसी काव्य के आस्वाद में कई नये आयाम जोड़ता है जिनसे हमारी हिंदी आलोचना समृद्ध हुई है।

रमेश कुंतल मेघ की इस समीक्षाकृति के अंतिम खंड या 'गोष्ठी' में मिथक की सारगर्भित सैद्धांतिकी पेश की गयी है जिसमें देशविदेश के मिथक संबंधी चिंतन को उन्होंने शामिल किया है और तुलसी काव्य के संदर्भ में उसकी अपनी मौलिक व्याख्या की है। मिथक की सृजनप्रक्रिया का एक पक्ष उनसे ज़रूर छूट गया है, वह यह है कि कोई घटना पहले किसी सामाजिक यथार्थ पर आधारित एक भाषिक आख्यान या बिंब बनती है, वह विकसित हो कर मेटाफ़र और फिर प्रतीक बन जाती है और कालांतर में प्रतीक मिथक का रूप धरण कर लेता है। रामकथा के सिलसिले में भी यही हुआ होगा, कथाओं की शक्ल लेते लेते उस मिथक में कवियों की कल्पनाओं ने कुछ न कुछ नया जोड़ दिया, तुलसी के *रामचरितमानस* में भी कई अनाम कवियों ने क्षेपक जोड़े, बचपन में मेरे घर में एक ऐसी प्रति मौजूद थी जिसमें 'लवकुश कांड' क्षेपक के रूप में मौजूद तो था ही, उस के अलावा बीच बीच में भी क्षेपक मिलते थे। मेघ जी ने अपने वातायन से 'बिंब→मेटाफ़र→प्रतीक→मिथक' की प्रक्रिया को उलट दिया और पहले मिथक की व्याख्या की और उसके बाद अंत में तुलसी काव्य के बिंबों का वर्गीकरण करके उनकी मीमांसा पेश की। यह खंड भी मेघ जी की अद्वितीय मेधा और उनके ज्ञान के विस्तार की गवाही देता है।

इस तरह हम तुलसी काव्य के लगभग सभी पहलू मेघ जी के वातायन से इस कृति में देख सकते हैं और इस वातायन से उनके अपार ज्ञानभंडार से खुद को समृद्ध कर सकते हैं। कहना न होगा कि हिंदी आलोचना में तुलसी काव्य विवेचन का ऐसा सारगर्भित काम अपनी प्रकृति में अनूठा तो है ही।

रचनाकाल : मई 2013